3 गणित की अध्यापन कला

हृदयकांत दीवान

शुरू करने से पहले ''अध्यापन–कला (पेडागॉजी)'' शब्द के साथ गुंथे हुए कुछ मुद्दों को स्पष्ट करके उनके विस्तार में जाना जरूरी है। इस सुविधाजनक शब्द में सामान्यतः एक गठरी की तरह सब कुछ समेट लिया जाता है, पर इसके बावजूद कुछ परिस्थितियों में इसके अपने निहितार्थ पर पूरा विमर्श किया जा सकता है।

क्या ''अध्यापन–कला'' एक स्वतंत्र अवधारणा हो सकती है?

अध्यापन–कला की पहली अपेक्षा है उस विषय क्षेत्र को भलीभाँति जानना जिसके अध्यापन के सन्दर्भ में विचार हो रहा हो। यानी गणित की अध्यापन–कला पर विचार करने के लिए सबसे पहले यह जानना जरूरी है कि गणित क्या है, इसमें क्या–क्या शामिल है, यह कैसे काम करता है, इसके बाद ही हम दूसरे प्रश्नों पर जा सकते हैं। इसमें क्या शामिल है, इसका पहला सीधा जवाब है: अंकगणित और उसका व्यापकीकरण (जैसे बीजगणित), ज्यामिति, सांख्यिकी,संख्या–प्रणाली का विश्लेषण और ऐसी अन्य श्रेणियाँ। इनका वर्णन करते हुए इन्हें मात्राओं, आकारों तथा उनके रूपान्तरों के मानवीय अनुभवों को निराकार सूत्रों में बदलना, व्यवस्थित करना और उनका व्यापकीकरण करना गणित कहा जा सकता है। बाद में यह सभी विषय क्षेत्रों की निराकार और व्यापक अवधारणाएँ गढ़ने की आधार भाषा बन जाता है। अब गणित का ज्ञान और उसकी संरचनाएँ मानव समाज के परिमाणीकरण, मापन और आकाशीय आकारों की संकल्पना करने की प्रारम्भिक आवश्यकता से बहुत आगे जा चुकी हैं। एक सूक्ष्म निराकार भाषा की तरह यह विभिन्न क्षेत्रों के विचारों और अवधारणाओं को जोड़ता है। जैसे–जैसे इसका विकास हुआ है, इसने मानवीय अनुभव के विभिन्न क्षेत्रों के साझा सूत्रों को पुष्ट करने का प्रयास भी किया है।

दूसरी अपेक्षा, गणित के अन्तर्गत हम क्या सीखना–सिखाना चाहते हैं, इसे स्पष्ट रूप से व्यक्त करने की है। पहाड़े जिस तरह याद किए जा सकते हैं, वह गणित के विवरणात्मक प्रश्नों को हल करने में, या एक चर राशि की अवधारणा को समझने में विद्यार्थियों की मदद से कतई अलग है। अध्यापन–कला ज्ञान की पृथक धारा नहीं है, और न अध्यापन का विषय चुनने में वह आपकी मदद कर सकती है, यद्यपि वह आप के चुने हुए विषयों से जुड़ी हो सकती है। कभी–कभी तो उनके अनुसार संचालित भी हो सकती है, या इसका उल्टा भी हो सकता है। इनका पारस्परिक सम्बन्ध अगर देखा जा सके तो वह प्रभावशाली और महत्वपूर्ण होता है। उदाहरण के लिए आप तथाकथित रचनावाद के तरीके से रटकर पहाड़े सीखने में बच्चों की मदद नहीं कर सकते, न ही पारम्परिक व्यवहारवादी ढाँचे के अन्तर्गत बच्चों को खुली संरचनाओं की पड़ताल करना सिखा सकते हैं।

हम सीखने–सिखाने की विषयवस्तु का निर्माण कैसे करते हैं?

गणित और इसके अमूर्त चरित्र के बहुआयामी सम्बन्धों को ध्यान में रखते हुए एनसीएफ ने सुझाव दिया कि गणित के अध्यापन का एक प्रमुख लक्ष्य बच्चों की समझ का गणितीकरण होना चाहिए।

> *''प्रारम्भिक कक्षाओं के गणित के पाठ्यक्रम के दायरे में संख्याओं तथा संख्या प्रणाली को समझना और उनका इस्तेमाल करना, तुलनाओं को समझना और उन्हें मात्रात्मक ढंग से व्यक्त करना, आकारों और स्थानिक सम्बन्धों को समझना, आँकड़ों को समझकर इस्तेमाल करना आदि सब आते हैं।''*

इसका अभिप्राय यह है कि अमूर्तीकरण की प्रक्रिया द्वारा तार्किक रूप से गठित व्यापक तर्कसरणियाँ बनाने में, अपने अनुभवों को गहराई से व्यवस्थित करने में, और अलग–अलग विशेष तथा सांयोगिक घटनाओं के पार जाने में समर्थ बनने में बच्चों की सहायता करने का प्रयास किया जाना जरूरी है, ताकि वे एक अधिक व्यापक और तर्कसंगत दृष्टिकोण की ओर बढ़ सकें। प्रारम्भिक कक्षाओं के गणित के पाठ्यक्रम के दायरे में संख्याओं तथा संख्या प्रणाली को समझना और उनका इस्तेमाल करना, तुलनाओं को समझना और उन्हें मात्रात्मक ढंग से व्यक्त करना, आकारों और स्थानिक सम्बन्धों को समझना, आँकड़ों को समझकर इस्तेमाल करना आदि सब आते हैं। हमें इनके किन पहलुओं को पढ़ाने की ज़रूरत है और उन्हें हम कैसे पढ़ाएँगे, यह समझने के लिए हमें गणित के विषय क्षेत्र को अधिक व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखना जरूरी है। हमारे मन में गणित की एक समग्र तस्वीर और उसका सम्पूर्ण विस्तार स्पष्ट होना भी जरूरी है। फिर इसे कक्षा के अनुसार सीमित करना और खास पहलुओं को चुनने की आवश्यकता होती है। इनकी समझ एकदम साफ हो

इसके लिए हमारे दिमाग में इन चुनावों के कारण का एक स्पष्ट वक्तव्य होना चाहिए।

गणितीय समस्याओं को हल करने की क्षमता को कई तरीकों से देखा जा सकता है। एक ज़ाहिर तरीका है उनके हलों की बच्चे से लगभग नकल जैसी करवा देना। यहाँ सवालों को हल करने के लिए दिए गए उदाहरणों का अनुकरण करने को कहा जाता है। किसी भी दूसरे प्रकार के प्रश्न दिए ही नहीं जाते, तो उनके समाधानों के तरीके खोजना तो दूर की बात है। इस तरीके में एक ही जैसे सवालों को एक से ही ढंग से हल करने की क्षमता विकसित होने की उम्मीद की जाती है। यहाँ वह गणितीय क्रियाकलापों में दक्षता हासिल करने की व्यवस्था के बजाय सवालों को हल करने की विधियाँ गढ़ना और समझना अधिक प्रतीत होती है। जबकि किसी अच्छे सवाल को हल करने के लिए, सवाल के भीतर ही उपयुक्त सुरागों को ढूँढ़ कर, उसे हल करने की विधि तलाश करना और फिर चरणबद्ध ढंग से आगे बढ़ना पड़ता है।

यहाँ तार्किक दृष्टि से अगला प्रश्न उठता है, ''हम गणित क्यों पढ़ाते हैं?'' यदि बच्चे अमूर्तीकरण करना नहीं सीख पाते और न ही तर्कसरणी का सिलसिला समझ पाते हैं तो क्या हमें गणित के इन पहलुओं को उन्हें पढ़ाने की सचमुच में कोई ज़रूरत है? क्या गणित में कोई सांस्कृतिक पक्षपात होता है? या कोई आनुवांशिक पक्षपात भी हो सकता है जिसके फलस्वरूप सिर्फ कुछ बच्चे ही इसे सीख सकते हैं? क्या गणित, विज्ञान, दर्शनशास्त्र तथा इतिहास और संगीत सहित अन्य विषयों में किया जाने वाला अमूर्तीकरण सर्वसुलभ क्षमता नहीं है? या कि गणित में होने वाला अमूर्तीकरण कुछ अलग प्रकार का है? हम सभी किसी ताल की लय का आनन्द ले सकते हैं लेकिन जिसे शास्त्रीय संगीत या शास्त्रीय नृत्य कहते हैं उसे सराहने के लिए ऐसे अनुभव या परिस्थितियाँ आवश्यक होती हैं जो सर्वत्र सुलभ नहीं होतीं। क्या संख्याओं और आकाशीय स्वरूपों का व्यापकीकरण करने और उनसे खेलने की क्षमता भी कुछ ऐसी ही बात है?

ऐसी स्थिति में, सार्वभौमिक प्राथमिक तथा माध्यमिक स्कूल के पाठ्यक्रम में क्या होना चाहिए? हम बच्चों से ऐसा क्या सीखने की चाहत रख सकते हैं, और उम्मीद कर सकते हैं जिससे कि वे न तो दूसरों द्वारा अक्षम बताए जाएँ, ना ही वे खुद को ऐसा समझें? ऐसा प्रश्न भी उठाया जा सकता है कि क्या उनके लिए गिनने की संख्याएँ और उनके साथ की जाने वाली क्रियाएँ जानना तथा थोड़ा–सा दशमलव अंशों और आमतौर पर उपयोग की जाने वाली भिन्नों को जानना पर्याप्त नहीं है? क्या गणित को अमूर्त और देखने में इतना जटिल बनाना ज़रूरी है कि अनेक लोग उसे समझ ही न सकें? क्या यह तथ्य, कि एक खास तरह का गणित बच्चों को समझ में नहीं आता और वे उससे आतंकित रहते हैं, उसे पढ़ाए जाने के तरीके का परिणाम है, या कि यह पढ़ाई जाने वाली विषयवस्तु के कारण है? अंततः यहाँ हमें इन प्रश्नों के बीच जटिल सम्बन्ध दिखाई देता है– गणित क्या है? तथा प्राथमिक कक्षाओं के लिए गणित का कौन–सा ऐसा जरूरी क्षेत्र है जिसे पढ़ाया जा सकता है? हमें इस पर भी विचार करना होगा कि सार्वभौमिक रूप से उस स्तर पर उसे पूरा का पूरा सीखे जाने की जरूरत है या नहीं। हमें यह साफ करना होगा कि (अ) उस आयुवर्ग, उस पृष्ठभूमि और उस ऐतिहासिक सन्दर्भ में बच्चों के लिए वह क्यों जरूरी है? (ब) क्या स्कूलों तथा शिक्षकों की उपलब्ध परिस्थितियों में उस पृष्ठभूमि के विद्यार्थियों द्वारा उसे सीखा जा सकता है?

हम जो भी फैसले करेंगे उन्हें प्रश्नों के इन छन्नों से गुजरने में सक्षम होना जरूरी है। जाहिर है कि न तो इन प्रश्न छन्नों का परिपूर्ण जानकारी और तर्कों सहित समाधान करना आसान है, और न ही वर्तमान सामाजिक और आर्थिक स्तरों की पहुँच के बीच की खाई को देखते हुए उन समाधानों को लागू करने पर किसी सहमति का बन पाना ही आसान है।

जैसा कि उपरोक्त चर्चा से स्पष्ट है, ''अध्यापन–कला क्या है?'', इस प्रश्न का अपने आप में उत्तर देना कठिन है। इसके दायरे और लक्ष्यों को सटीक ढंग से व्यक्त नहीं किया जाता, और इसे कैसे परिभाषित किया जा सकता है, इस पर पर्याप्त सहमति नहीं है। परन्तु जिस तरह यह शब्द आमतौर पर इस्तेमाल किया जाता है उसे दर्शाने वाली सामान्य समझ जरूर मौजूद है।

अध्यापन–कला क्या है?

मोटे तौर पर अध्यापन–कला से तात्पर्य होता है किसी विषय को पढ़ाने का तरीका। इस दृष्टि से देखने पर इस शब्द में कई चीजें समायी हुई दिखती हैं। इसमें कक्षा में होने वाला शैक्षणिक आदान–प्रदान और सीखने–सिखाने की प्रक्रियाएँ, सीखने–सिखाने की सामग्री का प्रकार और उसकी प्रकृति, मूल्यांकन पद्धति, अध्यापक तथा विद्यार्थियों का सम्बन्ध, विद्यार्थियों की सहभागिता की सहमति, कक्षा की भौतिक व्यवस्थाएँ आदि सभी कुछ आ जाता है। पढ़ाई के लिए चुनी गई विषयवस्तु, जानकारी, सिखाए और सीखे जाने वाले कौशल और अवधारणाएँ भी निश्चित रूप से अध्यापन–कला को प्रभावित करते हैं (और कुछ लोगों के अनुसार तो वे उसमें शामिल ही रहते हैं)। इसका मतलब यह हुआ कि यहाँ विविधता के प्रति एक सम्वेदना और समझ होने की तथा पाठ्यक्रम के तौर पर सामग्री और प्रसंगों के चुनाव में सावधानी बरतने की जरूरत होती है। यदि आप कक्षाओं में दिखाई देने वाले अध्यापन–कला के स्वरूपों पर ध्यानपूर्वक विचार करें तो पाएँगे कि इसका सम्बन्ध इन बातों

से भी है कि शिक्षकों को कैसे तैयार किया जाता है; प्रशासनिक तौर पर उनके साथ कैसा बर्ताव किया जाता है; शाला का भवन और कक्षा कैसी है; तथा कक्षा के भीतर तथा अध्यापकों में पाई जाने वाली विविधता के कारण कैसी सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक अन्तर्धाराएँ बह रही हैं। इनके अलावा ऐसे अन्य व्यवस्थात्मक और परिस्थितिजन्य कारक भी हो सकते हैं जो सीखने–सिखाने के तरीके को प्रभावित कर सकते हैं। इस तरह यह वाकई काफी विस्तृत परिदृश्य हो जाता है।

हम यहाँ अपने को कुछ पहलुओं तक ही सीमित रखेंगे। ऊपर बताए गए पहलुओं में से कुछ यहाँ फिर ऐसे मुद्दों की तरह दोहराए जाएँगे जिनका अध्यापन–कला पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। ये हैं:

(अ) गणित पढ़ाने के लक्ष्य

(ब) गणित की प्रकृति और उसके प्रमुख सिद्धान्त

(स) अध्यापक और उसका दृष्टिकोण

(द) बच्चे गणित कैसे सीखते हैं

(क) इस विषय के प्रति समाज का रवैया

इनसे हमें यह अलग–अलग कक्षाओं और आयुवर्गों के विद्यार्थियों से सीखने की विशेष अपेक्षाओं और उनके उद्देश्यों को तय करने में मदद मिलेगी। पहले दो मुद्दों का विस्तृत निर्धारण इन कारकों पर निर्भर करेगाः तथाकथित विषय, उसकी प्रकृति, मानव समाज तथा उन विद्यार्थियों के लिए उसका प्रयोजन जिनके लिए अध्यापन कार्यक्रम विकसित किया जा रहा है। हमें उस व्यक्ति को भी ध्यान में रखना होगा जो अध्यापक के रूप में सिखाने का काम करने वाला है। ताकि यह समझा जा सके कि निर्धारित लक्ष्यों, उम्मीदों और विद्यार्थियों की पृष्ठभूमियों को देखते हुए उससे क्या अपेक्षाएँ हैं। तीसरा मुद्दा है कि यह विषय जिस प्रकार सीखा जाता है उस प्रक्रिया के बारे में क्या हमें किसी विशेष समझ की जरूरत है? इससे हमें ऐसी कक्षाएँ निर्मित करने में मदद मिलेगी जो सीखने में सहायक होती हैं। चौथा मुद्दा है गणित के बारे में समाज में व्याप्त दृष्टिकोण चाहे वह शिक्षकों का हो, या विद्यार्थियों का या उनके माता–पिता का। ये सभी मुद्दे इस विषय की अध्यापन–कला में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं।

गणित पढ़ानाः कुछ तरीकों पर चर्चा

किसी भी विषय के सीखने–सिखाने पर चर्चा करने के लिए इसकी बुनियादी समझ आवश्यक है कि बच्चे कैसे सीखते हैं। हमारा अध्यापन कार्यक्रम उसी समझ पर आधारित होना चाहिए। विशेषकर जब विषय के प्रत्येक अलग अंश की अपनी अलग प्रकृति हो जो उसके सीखने को एक विशेष रंग देती हो। किसी खास विद्यार्थी के लिए इन अंशों का अनुभव और उससे की जाने वाली अपेक्षाओं की प्रति अन्य विद्यार्थियों की तुलना में बहुत भिन्न हो सकती है। बहुत वर्षों तक, अन्य सभी कुछ सीखने के समान ही गणित का सीखना भी रैखिक और निरन्तर अभ्यास के द्वारा ही होने वाला माना जाता था। जो कुछ सीखा जाना होता था उसे छोटे–छोटे टुकड़ों में बाँटकर बच्चों को अभ्यास करने के लिए दिया जाता था। इस पद्धति का प्रमुख उदाहरण था सीखने का न्यूनतम स्तर (मिनिमम लर्निंग लेवेल एमएलएल)। इसका दावा था कि अध्यापन–कला योग्यता के अनुसार निर्धारित होती है।

पाठ्यपुस्तक तथा दूसरी शिक्षण सामग्री में हर उस छोटे अंश के लिए जिसे 'योग्यता' का सूचक माना जाता है, एक पूरा पेज या खण्ड दिया गया होता था। ऐसी आशा की जाती थी कि एक बार जब बच्चे इसे कर लेंगे तो वे अपने आप योग्यता का वह अंश भी निश्चित ही विकसित कर लेंगे और फिर आगे बढ़ेंगे। पर एमएलएल दस्तावेज खुद ही 'योग्यता' शब्द को कई अलग–अलग तरीकों से इस्तेमाल करता है। ढीले–ढाले ढंग से इसका उपयोग जानकारी को स्मरण कर सकना, विधि का अनुसरण करना, फार्मूलों का इस्तेमाल करना, और कुछ मामलों में, अवधारणाओं को जानना तथा सवालों को हल कर पाना, इन सबके लिए किया जाता था। इसके फलस्वरूप यह स्पष्ट नहीं है कि एमएलएल दस्तावेज में 'योग्यता' शब्द का क्या अर्थ निकाला जाना चाहिए। जमीनी स्तर पर भी योग्यता का विमर्श आगे नहीं बढ़ा है। इस मामले में, ऐसा लगता है कि गणित की तथाकथित सीढ़ी जैसी प्रकृति का विश्लेषण अभी भी उसी ढाँचे में किया जाता है, और इसकी अवधारणा भी टुकड़ों–टुकड़ों में बाँटकर, विधियों के अभ्यास और तथ्यों को याद रखने के रूप में की जाती है।

एक अन्य तत्व जिस पर अध्यापन–कला अत्यधिक निर्भर करती है वह है सीखने–सिखाने की सामग्री (कार्यपुस्तिका और पाठ्यपुस्तक) का प्रस्तुतिकरण। वह बच्चों से क्या करने की अपेक्षा रखती है और वह कक्षा की पढ़ाई की और मूल्यांकन की कैसी व्यवस्था सुझाती है। सामग्री के निर्माण में यह स्पष्ट होना चाहिए कि वह किसके लिए है और इसलिए उसमें क्या–क्या शामिल होना चाहिए। यदि सामग्री बच्चों के लिए है तो उसमें खाली जगह के द्वारा उचित खुलापन, उपयुक्त फांट आकार, बच्चों के अनुकूल बनाए गए चित्र तथा उपयुक्त भाषा होना चाहिए।

गणित की पाठ्यपुस्तकें और कक्षाएँ, एमएलएल के आगमन के पहले और उसके बाद, लगभग एक–सी ही रही हैं क्योंकि विद्यार्थियों से अभी भी सवाल हल करने की विधियों का अभ्यास करने के लिए और प्रश्नों को जल्दी से अंकों और मात्राओं में बदलने के लिए कहा जाता है। बच्चे की अभिव्यक्ति और उसकी भाषा को शामिल करने, स्वयं खोजने और गणितीय स्थितियों से

निपटने के नए तरीके गढ़ने की आजादी दिए जाने को शिक्षण सामग्री में न तो स्वीकार किया जाता है और न इस सबकी अपेक्षा है। वे गणित सीखने के लिए 'दिए गए और हल किए गए उदाहरण को समझने और उसी तरह के और सवाल करने' की पद्धति का ही अनुसरण करते हैं। यहाँ इस बात पर भी गौर किया जाना चाहिए कि जब कोई विशिष्ट योग्यता हासिल करने की बात कही जाती है तो उसका मतलब है कि पहले दी जाने वाली मिली–जुली प्रश्नावलियाँ, जो कम से कम बच्चे से दिमागी श्रम करवाती थीं, अब केवल एक ही विकल्प का अभ्यास करने तक सीमित हो गई हैं। हाँ, इसी समय पुस्तक की डिज़ाइन का महत्व तथा उसमें चित्रों और रंगों की ज़रूरत को अवश्य महसूस किया जाने लगा, अतः किताबें कम से कम भिन्न दिखने लगीं। तथापि चित्रों, डिज़ाइन और अन्य पहलुओं के आधार–सिद्धान्तों में बच्चे को सक्रिय रूप से अपना दिमाग लगाने के अवसर दिए जाने की जरूरत को शामिल नहीं किया गया।

स्पष्ट अभिव्यक्ति के अभाव में 'योग्यता' शब्द का जोर व्याख्याओं, तथ्यों और सवाल हल करने के छोटे रास्तों को सिखाने पर ही था। गणित के सन्दर्भ में 'करके सीखना' और 'योग्यता' जैसे महत्वपूर्ण सिद्धान्तों की न तो पर्याप्त जाँच–पड़ताल की गई और न ही उन पर ध्यान दिया गया। जैसे कि जोड़ सिर्फ एक गणितीय प्रक्रिया थी जिसमें पहले एक–एक अंकों को जोड़ना रहता है, फिर दो या उससे अधिक अंकों वाली ऐसी संख्याओं को जोड़ना जिनमें 'हासिल' की जरूरत नहीं होती और फिर संख्याओं के स्तम्भों को हासिल का उपयोग करके जोड़ना पड़ता है। गणित को 'किया जाने वाला' विषय बनाने की कोशिश करने में योग्यता–आधारित भिन्न संख्याएँ केवल परिभाषाएँ और गणितीय क्रियाएँ बनकर रह गईं। गणितीय अवधारणाओं की ऐसी अंशों में बँटी दृष्टि के कारण बच्चों के अपने स्वयं के विचारों और तर्क को निर्मित करने और व्यक्त करने के अवसर सिकुड़ते गए।

चूँकि इस पद्धति में 'करने' का आशय सिकुड़कर ज्यादातर यांत्रिक दोहराव भर रह जाता है, इसलिए इसमें उस 'करने' के दर्शन नहीं होते जो खोजने से, तर्कों को गढ़ने से, अभिव्यक्ति और ऐसी परिभाषाएँ विकसित करने से उपजता है जिन पर दूसरों से प्रतिक्रियाएँ मिलती हैं। इसका यह मतलब नहीं है कि बच्चों को मनुष्य जाति के समूचे ज्ञान को फिर से खोजकर निकालना है, या अपने आप सभी बातों का पता लगाना है। मानव समाज ने अपनी कालयात्रा में जो ज्ञान बटोरा है वह सबके साथ बाँटा जाना है, पर यह ऐसे तरीके से होना चाहिए कि बच्चे अपनी वैचारिक ताजगी, जिज्ञासा और सीखने की उत्कंठा को बनाए रख सकें। इसका अभिप्राय उपलब्ध ज्ञान का वर्चस्व बनाये रखना कतई नहीं हो सकता।

गणित कैसे पढ़ाएँ? : दो दृष्टिकोण

गणित कैसे पढ़ाया जाता है, इसका विश्लेषण करने में दो भिन्न दृष्टिकोण दिखाई देते हैं जिनके अन्तर्गत शिक्षण कार्यक्रमों का वर्गीकरण किया जा सकता है। हम पाते हैं कि इन दोनों को किसी अनुपात में मिलाकर कक्षाओं को बनाया जाता है। एक सोच यह है कि यदि आप विद्यार्थियों से विधियों और छोटे उपायों का इस्तेमाल करते हुए ढेर सारे सवालों को हल करने का अभ्यास करवाएँ, तो वे अंततः यह समझना शुरू कर देंगे कि कोई विधि कैसे काम करती है। शायद उन्हें थोड़ा यह भी समझ आ जाए कि वह क्यों काम करती है। जो भी हो वे विधि के क्रमिक चरणों को ठीक से सीख लेते हैं और उसे किसी भी प्रसंग में इस्तेमाल करने में सक्षम हो जाते हैं। हालाँकि सवालों की प्रकृति में बदलाव होंगे।

दूसरी सोच यह है कि गणित सीखना वास्तव में इस बात की समझ विकसित करना है कि यह विषय किस प्रकार निर्मित हुआ है, इसके बुनियादी तत्व क्या हैं, और उन तार्किक चरणों को खोजना है जिनसे कुछ मामलों में विधियाँ और छोटे मार्ग निकलते हैं। इसमें बच्चे से सवालों को हल करने के लिए कई तरीके विकसित करने, और यदि उपयुक्त लगे तो विधियों का इस्तेमाल करने के काबिल बनने की उम्मीद की जाती है। यहाँ तर्क यह नहीं होगा कि यही सबसे अच्छी विधि है और इसे सबको सीखना जरूरी है, बल्कि जोर उपयुक्त लगने पर उचित विधि के इस्तेमाल करने पर है। विद्यार्थी यदि चाहें तो छोटे उपायों को भी जान सकते हैं, उन्हें खोज सकते हैं, उन पर बहस कर सकते हैं और उन्हें इस्तेमाल कर सकते हैं।

बच्चों को विधियों के अलावा भी बहुत कुछ सीखना जरूरी है, इसके पक्ष में अनेक उदाहरण दिए जाते हैं। इनमें सबसे सीधा उदाहरण है दो अंकों की संख्याओं को जोड़ना। उपलब्ध साक्ष्यों से पता चलता है कि विधियों से बच्चों का परिचय यांत्रिक ढंग से कराया जाता है जिसके फलस्वरूप वे ऐसे जोड़ को दो अलग–अलग एक अंक की संख्याओं को जोड़ने की तरह देखते हैं। इस तथ्य पर भी गौर नहीं किया जाता कि जब हम किसी संख्या को दो या तीन अंकों की किसी अन्य संख्या से गुणा कराते हैं तो दहाई के अंक से मिलने वाले गुणनफल को इकाई से अंक से प्राप्त गुणनफल के एकदम सीधे नीचे नहीं लिखा करते जाता। उसे इकाई के स्थान पर काटने का चिन्ह बनाकर बाईं ओर खिसका दिया जाता है। उदाहरण के लिए:

```
  17
X 23
----
  51
 34X
----
```

पर हमसे हमेशा इस खिसकाने का कारण खोजने के लिए नहीं कहा जाता। इसी प्रकार के उदाहरण भाग की क्रिया में भी होते हैं।

कुछ लोग तर्क देते हैं कि हासिल लगाने, या उधार लेने की अवधारणाओं के लिए स्थानीय मान की समझ जरूरी है, इसलिए जब तक हम बच्चों में स्थानीय मानों को पहचानने की सामान्य क्षमता विकसित नहीं करवा पाते, तब तक वे ऐसे जोड़ या घटाने वाले सवाल नहीं कर पाएँगे जिनमें हासिल लगाने या उधार लेने की जरूरत पड़ती है। यहाँ मूल बात यह है कि जोर विषय का ढाँचा और अवधारणाएँ सीखने पर है। एक बारगी जब उन्हें सीख लिया जाता है तब उनके उपयोग विद्यार्थी धीरे–धीरे सीख ही जाएँगे। इसलिए इन बातों में दोनों दृष्टिकोणों में स्पष्ट अन्तर दिखता है, यद्यपि अन्तिम लक्ष्यों पर उनमें सहमति हो सकती है।

मूर्त से अमूर्त की ओर, इसका क्या अर्थ है?

अध्यापन–कला के एक और पहलू का सम्बन्ध कक्षा में प्रयोग की जाने वाली सामग्री की प्रकृति और उसकी भूमिका से है। आमतौर पर हम यह मानते हैं कि अमूर्त अवधारणाएँ, स्थूल परिस्थितियों को निर्मित करने, अनुभव करने और उनका विश्लेषण करने की प्रक्रिया द्वारा हासिल की जाती हैं। कक्षा में सहायक सामग्री की तरह ज्यादा से ज्यादा चीजें रखने पर क्रमशः अधिक जोर दिया जाता रहा है। तथाकथित गणित की प्रयोगशाला (मैथलैब) के विचार का व्यापक रूप से समर्थन और वकालत की गई है। लोगों को ऐसा लगता है कि बच्चे गणित की प्रयोगशाला में होने वाले अनुभवों से अवधारणाएँ सीखते हैं। इस पर सावधानी से विचार किए जाने की जरूरत है।

इसमें कोई शक नहीं कि बच्चों की मदद करने के लिए स्थूल चीजों और स्थितियों को इस्तेमाल करने का विचार महत्वपूर्ण है। ये अमूर्त अवधारणाओं को निरूपित करने के लिए अस्थाई प्रतिरूपों का काम करते हैं। उदाहरण के लिए, पाँच पत्थर या पाँच कुर्सियाँ संख्या 5 के लिए स्थूल प्रतिरूप हैं। गत्ते में से काटा गया त्रिभुजाकार टुकड़ा त्रिभुज का प्रतिरूप है क्योंकि यह त्रिभुज के कुछ प्रमुख गुणों को दर्शा सकता है। पर यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि ये चीजें पूरी तरह पाँच या त्रिभुज को निरूपित नहीं करतीं। वे केवल प्रारम्भिक स्तरों पर इन अवधारणाओं का सम्प्रेषण करने के लिए हमारे ढाँचे हैं। विद्यार्थियों को धीरे–धीरे इन स्थूल ढाँचों से आगे बढ़कर इन गणितीय तत्वों को ऐसे अमूर्त विचारों की तरह देख सकना चाहिए जिनका वास्तव में स्थूल निरूपण नहीं किया जा सकता।

चतुर्भुज चार सरल रेखाओं से घिरी एक बन्द आकृति होती है। सरल रेखा अनन्त तक फैली हुई एक ऐसी डोरी होती है जिसकी कोई मोटाई नहीं होती। इसलिए सार की बात यह है कि वास्तविक रेखा, और इस कारण वास्तविक चतुर्भुज का स्थूल निरूपण तो दूर की बात है, ब्लैकबोर्ड पर भी उसका निरूपण नहीं किया जा सकता। अतः जहाँ एक ओर स्थूल अनुभवों से प्रारम्भ करना महत्वपूर्ण है वहीं बच्चे के लिए धीरे–धीरे अपनी खुद की भाषा का प्रयोग करते हुए उन्हें व्यक्त करना और अमूर्त की ओर आगे बढ़ना बेहद जरूरी है। गणित में चित्रों और गिनने की लकीरों (टैलीमार्क्स) वाली अवस्था से गुजरकर संकेत चिन्हों पर पहुँचना पड़ता है। यह गणित करना सीखने की अनिवार्य शर्त है। गणित सीखने की परिणति, किन्हीं मूर्त ढाँचों का सहारा लिए बगैर अपने आप में गणित की धारणाओं के साथ काम कर सकने की क्षमता में होना चाहिए। इसलिए जब हम बड़ी स्कूली कक्षाओं में गणित की प्रयोगशाला की वकालत करते हैं तो अध्यापन तथा बोध दोनों दृष्टियों से प्रश्न उठता है कि क्या यह आगे बढ़ने की सही दिशा है?

गणित की प्रयोगशाला के पीछे विचार यह है कि बच्चे कुछ क्रियाकलापों की खोजबीन करें। वे इससे सम्बन्धित प्रेक्षण करते हैं और फिर इन प्रेक्षणों से कार्यकारण सम्बन्धों का निष्कर्ष निकालते हैं। ऐसे कई प्रयोगों से, और पहले के प्रयोगों से एकत्रित किए गए आँकड़ों के आधार पर विद्यार्थी व्यापकीकरण करने का और परिकल्पनाएँ गढ़ने का प्रयास कर सकते हैं, जिन्हें फिर और प्रयोग करके जाँचा जा सकता है। प्रायोगिक प्रेक्षणों और परिकल्पनाओं की पुष्टि को विज्ञान की धारणाओं की ज्ञानशास्त्रीय कसौटी माना जा सकता है। दुर्भाग्य से गणित के लिए यह सच नहीं है, इसलिए गणित की प्रयोगशाला का इस्तेमाल करके बच्चों से मापों या प्रतिरूपों के द्वारा गणितीय वक्तव्यों तक पहुँचना या उन्हें सिद्ध करना ज्ञान तथा अध्यापन, दोनों दृष्टियों से गलत होगा। इस स्तर पर कोशिश बच्चे को अमूर्त धारणाओं से निपटने में सक्षम बनाने की होना चाहिए।

भाषा के जैसे समृद्ध अनुभवों को लेकर बच्चा स्कूल आता है, उसके विपरीत गणित की धारणाओं का आधार ऐसे समृद्ध अनुभव नहीं होते। सभी बच्चे दैनिक जीवन के लिए आवश्यक संख्याओं और अंकगणित से निपटने के लिए सक्षम होते हैं। वे आवश्यकतानुसार अपने आसपास के स्थान–विस्तार को व्यवस्थित करने और आकारों में रूपान्तर करने में भी समर्थ होते हैं। यह ज्ञान गूढ़ और जटिल होता है। इससे ऐसी धारणाओं को हासिल करने की बच्चों की नैसर्गिक क्षमता का पता चलता है। किसी भी समाज में सभी बच्चे इन धारणाओं के साथ काम करने में समर्थ होते हैं। समस्या तब आती है जब हम गणित पढ़ाने की कोशिश करते हैं और चाहते हैं कि वे संख्याओं, आकृतियों और उनके रूपान्तरों, गणितीय प्रक्रियाओं को मूर्त प्रसंगों से अलग कर उनका अमूर्तीकरण करें, तथा यह समझें कि क्यों ये सब काम

करते हैं। गणित के विषय का मतलब ही अमूर्त धारणाओं के बारे में बात कर सकना, और यह बता सकना होता है कि अमूर्त राशियों के बीच सम्बन्धों को कैसे समझा और विकसित किया जा सकता है। प्राथमिक कक्षाओं में सामाजिक विज्ञान और विज्ञान भी ज्यादातर अनुभव–आधारित होते हैं और यह माना जाता है कि इस स्तर पर अमूर्त धारणाएँ नहीं लादी जाना चाहिए। बड़ी प्राथमिक कक्षाओं में भी यह सम्भव है कि विज्ञान को मूर्त अनुभवों से भर दिया जाए, और बच्चों को पहले से उपलब्ध अनुभवों तथा कक्षा में होने वाले अनुभवों का उपयोग करते हुए अवधारणाओं का ढाँचा निर्मित करने में उनकी मदद की जाए। पर गणित ऐसा करने की इजाजत नहीं देती।

गणित की अध्यापन–कला बहुत कुछ इस पर निर्भर करती है कि अध्यापक बच्चों के साथ कैसे काम करते हैं। कक्षा का वातावरण ऐसा होना चाहिए कि बच्चे उसमें सहभागी हों, अपने विचार व्यक्त कर सकें, गलतियाँ कर सकें और उनके बारे में निडर होकर बात कर सकें। ऐसे वातावरण में ही बच्चों के गणित के साथ स्वस्थ रिश्ते कायम हो सकेंगे। ऐसी कोई एक विधि या तकनीक नहीं जिसका अनुसरण करने की हम अध्यापकों से अनुशंसा करें। अध्यापक को कक्षा के साथ बहना होता है और बच्चों की सहभागिता में सहायक होने की प्रक्रियाएँ रचनी पड़ती हैं, तथा ऐसा संवाद बनाए रखना पड़ता है जो धीरे–धीरे आगे बढ़े, और जो जरूरत पड़ने पर किसी पूर्व बिन्दु पर वापस लौट सके, तथा किसी अलग तरीके से विकसित किया जा सके। गणित की कक्षा के प्रमुख पक्ष की तरह इस बात को गहराई से स्वीकारना जरूरी है कि बच्चे गणित की धारणाओं तथा अवधारणाओं को अपनी पूर्वधारणाओं और अनुभवों के साथ समाहित करके और सक्रिय भागीदारी की प्रक्रिया में उन्हें संशोधित करके विकसित करते हैं। हममें से प्रत्येक सवालों को हल करने के अपने तरीके विकसित करता है। इसके लिए बच्चों को सवाल हल करने की बहुत–सी तरकीबों और विधियों से परिचित होना जरूरी हो सकता है, पर साथ ही उनका दिमाग और नए रास्तों को तलाशने और आजमाने के लिए खुला रहना चाहिए। उन्हें उपलब्ध होने वाले विचारों को आत्मसात करके अपनी अवधारणाओं के ढाँचे में ठीक से बिठा सकना चाहिए। हममें से कोई भी जो प्रतिरूप इस्तेमाल करते हैं, और जो चीजें कोई बच्चा बनाता है, वे उसे किसी सवाल को समझने में और उसे हल करने की रणनीति विकसित करने में मदद कर सकते हैं। पर वे सभी की मदद नहीं करेंगे। वे हममें से प्रत्येक के लिए अलग होंगे।

आप किसी व्यक्ति को छोटी तरकीबें बताकर या सवालों को हल करने के अपने तरीकों को उसपर लादकर गणित सीखने में उसकी मदद नहीं कर सकते। हो सकता है कि आपका तरीका आपको बहुत सरल, साफ–सुथरा और सुरुचिपूर्ण लगता हो, पर वह उसके लिए ऐसा न हो। हम विचारों को अपने–अपने ढंग से वर्गीकृत करते हैं और वे कदम उठाते हैं जो हम सोच सकते हैं। विद्यार्थी के लिए सवाल को समझना, और फिर आपने उसका हल निकालने की जो विधि इस्तेमाल की है उसके पीछे के तर्क को खोजना, इस तरह काम की कठिनाई दोहरी हो जाती है।

गणित तब सीखा जाएगा जब विद्यार्थी अपनी रणनीति विकसित करेंगे और अवधारणाओं तथा विधियों को अपने मनचाहे तरीके से उपयोग करेंगे। जाहिर है कि इसके लिए बच्चों को ढेर सारे सवालों को कई अलग–अलग तरीकों से हल करने का अवसर मिलना जरूरी है। हमें सीखने वालों का परिचय इन तमाम विविधताओं से करवाना चाहिए ताकि वे न केवल अपने स्वयं के उत्तर निर्मित करने की सामर्थ्य विकसित करें, बल्कि किसी दूसरे व्यक्ति के उत्तर को देखकर उसका विश्लेषण करने और समझने का प्रयास भी कर सकें। उनका गलतियाँ करने के प्रति निडर होना और अपनी समझ को व्यक्त करने का आत्मविश्वास होना जरूरी है। कक्षाओं के लिए इसका निहितार्थ यह है कि बच्चे अपने आप या समूहों में काम करें, उन्होंने जो हल ढूँढे हों उन्हें प्रस्तुत करें, नए सवाल गढ़ें और साथ ही नए व्यापक सूत्र तलाश करें। कक्षा ऐसी होना चाहिए कि हर बच्चा हर क्षण उसमें मन से जुड़ा और सक्रिय हो।

रचनावाद और सीखने–सिखाने की प्रक्रियाओं पर बहुत चर्चा हुई है। तर्क दिए गए हैं कि सीखने–सिखाने की प्रक्रिया रचनावादी होना चाहिए। कभी–कभी इसका यह अर्थ निकाला जाता है कि बच्चों को उनके अपने रास्ते पर चलने की, और वे क्या करना चाहते हैं यह तय करने की छूट मिलनी चाहिए। यहाँ इस बात पर जोर देना जरूरी है कि, गणित में सामग्री के इस्तेमाल करने के मुद्दे की ही तरह, बच्चों को उनकी खुद की समझ को व्यक्त करने और उसे आगे बढ़ाने की सुविधा को उस विषय की प्रकृति और बच्चों के साथ ज्ञान को बाँटने की व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में ही देखा जाना चाहिए। एक बारगी जब गणित का पाठ्यक्रम तय करने के आधार पर सहमति बन जाए तब कक्षा और स्कूल को विषय के महत्वपूर्ण माने जाने वाले क्षेत्रों में बच्चों की क्षमता विकसित करने में मदद करना पड़ेगी। शिक्षक बच्चों से यह नहीं पूछ सकता कि क्या किया जाना चाहिए। ज्यादा से ज्यादा वह ऐसे विकल्प रख सकता है जो कार्यक्रम में दिए गए लक्ष्यों और उद्देश्यों के अनुरूप हों ताकि वे उनमें से चुनाव कर सकें। अपने आप में रचनावाद की धारणा का और उसके गणित से सीखने–सिखाने से सम्बन्ध का और अधिक सावधानीपूर्वक विश्लेषण किए जाने की और समझे जाने की जरूरत है।

गणित में मूल्यांकन

अध्यापन–कला के किसी भी वक्तव्य का एक महत्वपूर्ण भाग है मूल्यांकन। सामान्यतः मूल्यांकन के प्रमुख पहलू हैं: (अ) मूल्यांकन का उद्देश्य (ब) मूल्यांकन की प्रक्रिया में विद्यार्थी की सहभागिता (स) मूल्यांकन की प्रक्रिया (द) बच्चे को मूल्यांकन का परिणाम (फीडबैक) किस प्रकार बताया जाएगा।

अभी जिस ढंग से मूल्यांकन किया जाता है वह अधिकांश बच्चों में भय और निरर्थकता की भावना भर देता है। उन थोड़े से बच्चों को छोड़कर जिन्हें अच्छा करने का भरोसा होता है, अन्य बच्चे सामान्यतः उसे जल्दी से निपटाना और किसी तरह घिसटकर पास हो जाना चाहते हैं। किसी को भी परीक्षा, परीक्षा में प्रदर्शन और सीखने के बीच सम्बन्ध नहीं दिखाई देता। विशेष रूप से गणित की परीक्षाओं में किए गए कार्यों की प्रकृति और जिस तरह उनका मूल्यांकन किया जाता है उसके परिणामस्वरूप बच्चे न केवल परीक्षा से बल्कि गणित सीखने की पूरी प्रक्रिया से भयभीत रहने लगते हैं। मूल्यांकन की पूरी प्रक्रिया का उद्देश्य यह पता लगाने के बजाय कि बच्चे को क्या आता है, यह दिखाना होता है कि उसे क्या नहीं आता। विकासात्मक या योगात्मक मूल्यांकन या ऐसी अन्य अवधारणाएँ अच्छी मूल्यांकन प्रक्रिया के उद्देश्य, महत्व और निहितार्थों को एकदम स्पष्ट नहीं करतीं। हाल के वर्षों में हमने सतत और सम्पूर्ण मूल्यांकन, तथा परीक्षारहित मूल्यांकन की बात की है और इसमें जो बच्चे पिछड़ जाते हैं उन्हें अध्यापक द्वारा अतिरिक्त सहायता दिए जाने के पक्ष में तर्क हैं।

परीक्षा को समाप्त करने, कमजोर विद्यार्थियों को न रोकने की नीति और उन्हें कक्षा के बाहर अतिरिक्त सहायता देने की बात अवधारणा की तरह आकर्षक लगती है पर उसे जमीन पर व्यावहारिक रूप से लागू करना सम्भव नहीं है।

शिक्षा स्कूल, शिक्षकों और बच्चों के बीच होने वाला संवाद है। यदि इस संवाद को भरोसे के आधार पर सहज नहीं बनाया जाता और खुलेपन की छूट नहीं दी जाती तो इसके फलस्वरूप कक्षा की प्रक्रियाओं में विकृतियाँ आएँगी। खासतौर से गणित में बच्चे और अध्यापक, दोनों के लिए यह जानना महत्वपूर्ण है कि बच्चा क्या जानता है, और इसकी भी समझ होना चाहिए कि उसे किन क्षेत्रों में संघर्ष करना पड़ता है। बच्चे की पूर्वस्थिति के आधार पर ही उसकी प्रगति को आँके जाने की जरूरत है। बच्चे के प्रदर्शन का मूल्यांकन दूसरे बच्चों से उसकी तुलना करने के बजाय एक अन्तराल में स्वयं उसके काम में आए परिवर्तन के आधार पर किया जाना चाहिए। मूल्यांकन और अपेक्षा, सीखने के लिए आवश्यक प्रयास करने का महत्वपूर्ण हिस्सा हैं। परीक्षा के डर के कारण मूल्यांकन की उपयोगिता निरस्त नहीं हो जाती।

समाज गणित को विस्मय और भय से, तथा सफलता की कुँजी की तरह देखता है। यह धारणा काफी मजबूत दिखाई देती है कि जो लोग गणित सीख पाते हैं वे अधिक बुद्धिमान होते हैं और जीवन में सफल होने के लिए उनके पास अधिक क्षमता और अवसर होते हैं।

गणित को एक ऐसे छन्ने की तरह देखा जाता है जो उन लोगों को, जो उच्च बौद्धिक क्षेत्रों में जाएँगे, दूसरे लोगों से अलग करता है जो समाज में कम बौद्धिक भूमिकाएँ निभाएँगे। बौद्धिक और तकनीकी भूमिकाएँ हासिल करने की आतुरता में माता–पिता और अध्यापक विद्यार्थियों पर सीखने के लिए दबाव डालते हैं। जब कई बच्चों को सीखने में असमर्थ घोषित कर दिया जाता है और परीक्षाएँ पास करने के लिए छोटे उपायों से उनकी मदद की जाती है, तो छँटनी की अवचेतन शुरुआत हो जाती है।

मूल्यांकन के डर और इस मान्यता, कि गणित सीख लेने पर अनेक दरवाजे खुल जाते हैं, के कारण कक्षा का वातावरण तनावमय हो जाता है। समाज में आमतौर पर व्याप्त यह धारणा कि गणित कठिन होता है और उसे थोड़े से लोग ही कर सकते हैं, बच्चों के धीरे–धीरे अपनी योग्यता विकसित करने में बाधक बन जाते हैं। इस बहस में किसी निर्णय पर पहुँचना कठिन है, लेकिन गणित के अध्यापन के विभिन्न पक्षों पर विचार करने से स्पष्ट है कि हम केवल पद्धतियों, कक्षा की व्यवस्थाओं और प्रस्तुतिकरण की शैलियों की बात नहीं कर रहे हैं। हमें शिक्षा और पूरी शिक्षण प्रक्रिया पर समग्र रूप से गौर करना होगा और उसे गणित के, बच्चों, पालकों और अध्यापकों के तथा उनकी आकांक्षाओं के सन्दर्भ में देखना होगा, तभी हम अध्यापन–कला की समझ विकसित कर सकेंगे।

हृदयकांत दीवान *(हार्डी) एकलव्य के संस्थापक सदस्य हैं। वर्तमान में विद्याभवन सोसायटी, उदयपुर के संगठन सचिव एवं शैक्षणिक सलाहकार हैं। वे शिक्षा के क्षेत्र में विभिन्न पक्षों पर विभिन्न तरीकों से पिछले 35 वर्षों से कार्य कर रहे हैं। विशेष रूप से वे शैक्षणिक नवाचार तथा राज्य की शैक्षणिक व्यवस्थाओं में संशोधन के प्रयासों से जुड़े रहे हैं। उनसे vbsudr@yahoo.com पर सम्पर्क किया जा सकता है ।*